।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक चौथा

विशेष-अंक

द्वितीय अषाढ़
२४७६

वीतराग-विज्ञान

मंगलमय मंगलकरन वीतराग विज्ञान।
नमों ताहि जाते भये अरहन्तादि महान।।

वीतराग विज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान, वह स्वयं ही मंगलमय है, और मंगल का कारण है। सच्चा ज्ञान-तत्त्वज्ञान-आत्मज्ञान-वह मंगलस्वरूप है, और मांगलिक का उपाय भी वही है। आत्मा की स्वरूपसम्पदा प्राप्त करनेरूप मंगल का वह कारण है; इससे उसे यहाँ नमस्कार किया है। इस वीतरागविज्ञान के द्वारा ही अरहन्तादि महान हुए हैं। वीतरागी विज्ञान को प्राप्त करके ही पंचपरमेष्ठी आत्मतत्त्व को प्राप्त हुए हैं।

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

इस अंक के लेख

१- अहो! चैतन्यरस!
२- अहिंसा धर्म
३- अज्ञानी की उलटी दौड़
४- धर्मी जीव की मति
५- धर्मी जीव जानता है कि 'मैं मुक्त हूँ'
६- चारित्र

चारित्र

कोई कहे कि चारित्र का अर्थ क्या? तो उससे कहते हैं कि चारित्र बाह्य में नहीं है, उपकरण या वस्त्र में चारित्र नहीं हैं; परन्तु आत्मा अनन्तगुण का पिण्ड है, उसका ज्ञान करके उसमें एकाग्र हो जाना ही चारित्र है। वह चारित्र तो मुनिपने में होता है। प्रथम अतिचाररहित आत्मा की श्रद्धा करने के पश्चात् ही स्वरूपरमणतारूप चारित्र होता है। आत्मा अनन्तगुण का निर्मल पिण्ड है, उसकी श्रद्धा और एकाग्रता के बल से क्षणिक विकार का नाश होता है। परन्तु विकार मेरा है– ऐसी विकार की श्रद्धा से विकार का नाश नहीं होता। विकार का नाश करने के लिए बल कहाँ से आयेगा? वह बल परवस्तु में से नहीं आता, विकार में से नहीं आता, निर्मल अवस्था के आधार से भी वह बल नहीं आता, परन्तु दर्शन-ज्ञान-आनन्द आदि अनन्तगुणों से अभेदस्वरूप वस्तु है–(जिसमें पर नहीं, विकार नहीं और वर्तमान अवस्था जितनी भी नहीं–ऐसी वस्तु) उसके आधार से बल आता है। उस वस्तु की श्रद्धा वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन में ऐसा क्या है कि प्रथम ही उसकी बात की? उसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शन का विषय सम्पूर्ण वस्तु है, उस वस्तु के बल से ही चारित्र प्रगट होता है और राग-द्वेष का नाश होता है, इसलिए पहले सम्यग्दर्शन की बात की है।

द्वितीय अषाढ़
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
विशेष-अंक

अहो! चैतन्य रत्न!

[परम पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

जिसे आत्मा का धर्म करना है, उसे प्रथम यह जानना चाहिए कि धर्म क्या वस्तु है? और वह कहाँ से प्रगट होती है? क्योंकि–

'धरम-धरम करतो जग सहु फिरे,
धरम न जाणे हो मर्म, जिनेश्वर!'

सारा जगत धर्म-धर्म की बातें करता है, लेकिन धर्म का मर्म क्या है? धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है? धर्म कहाँ रहता होगा? धर्म काहे में होता होगा? उसके सच्चे स्वरूप की लोगों को खबर नहीं है। क्या धर्म शरीर की क्रिया में होता होगा? शरीर की क्रिया तो जड़ की अवस्था है, जड़ में आत्मा का धर्म होता होगा? और आत्मा में दया-दान-पूजादि के भाव होते हैं, वह शुभराग है–आत्मा की विकारी दशा है; उस विकारी दशा से आत्मा की निर्मल अविकारी दशारूप धर्म होता होगा? विकार से अविकारी स्वभाव प्रगट नहीं होता। इसप्रकार धर्म के मर्म की खबर न होने से लोगों की रुचि पर में ही है। 'देह, वाणी आदि पर से भिन्न मैं चैतन्य, ज्ञानानन्दतत्त्व हूँ'– ऐसा भान न करे, वहाँ तक पर की रुचि दूर नहीं होती।

उस ज्ञानानन्दस्वरूप तत्त्व की रुचि कराने के लिए आचार्यभगवान चैतन्यस्वरूप आत्मा की महिमा निम्न श्लोक द्वारा कहते हैं।

तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्र महोदधेः
रमणीयेषु सर्वेषुतदेकं पुरतः स्थितम्॥

(पद्मनन्दि एकत्व-अशिति गाथा ४३)

वही एक (चैतन्यस्वरूप आत्मा ही) सर्वशास्त्ररूपी महासागर का उत्कृष्ट रत्न है; (लोक

में) सर्वरमणीय पदार्थों में वही एक (चैतन्यस्वरूप आत्मा ही) (सर्व के) आगे (सर्वप्रथम) विद्यमान है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा एक ही उत्कृष्ट रत्न है। ज्ञानिओं को समस्त शास्त्ररूपी समुद्रों का मंथन करने से यह एक चैतन्यरत्न ही प्राप्त हुआ। चैतन्य आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्थायी पदार्थ है। वह ज्ञान, दर्शन, आनन्द इत्यादि अनन्तगुणों के समुदायरूप अखण्ड एक पदार्थ है, शरीरादि जड़ पदार्थों से भिन्न है—ऐसे भिन्न चैतन्य को जाने बिना, बाह्य क्रियाकाण्डों में कषाय मन्द करे तो पुण्य होता है, परन्तु वह मन्द-कषाय, धर्म नहीं है और क्रिया-काण्ड में जड़ की क्रिया का कर्त्ता हो तथा शुभराग-मन्द कषाय को धर्म माने तो साथ में मिथ्यात्वरूपी महापाप होता है; इसलिए देहादि की क्रिया से भिन्न तथा शुभाशुभ विकाररहित चैतन्यस्वरूप आत्मा को समझने से ही कल्याण है। जीव ने अनादिकाल से आत्मा को नहीं जाना है। आत्मा अनादि-अनन्त है। जीवों ने अनादिकाल से एक क्षणमात्र भी यह पहचान नहीं की कि आत्मा कौन है? आत्मा, देह से भिन्न पदार्थ है और देह, जड़-रूपी पुद्गलों के पिण्डरूप, पृथक् पदार्थ है। देह-वाणी के प्रत्येक रजकण की क्रिया स्वतन्त्र है। आत्मा की इच्छा से शरीर की क्रिया नहीं होती। यदि शरीर के ऊपर इच्छा काम करती हो तो शरीर में जो रोग हो, उसे मिटा दे, परन्तु इच्छा से रोग नहीं मिटता। और यदि इच्छा से वाणी निकलती हो तो तीव्र इच्छा होने पर भी पक्षघात, लकवावाला आदमी नहीं बोल सकता; तोतला आदमी स्पष्ट भाषा बोलने की बहुत इच्छा करता है, परन्तु स्पष्ट नहीं बोल सकता, इसलिए आत्मा का जड़ देह, वाणी आदि परपदार्थों पर अधिकार नहीं है; वे आत्मा से भिन्न स्वतन्त्र पुद्गलों के रजकणों की अवस्थाएँ हैं, और आत्मा उनसे भिन्न मात्र ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप, ज्ञान-आनन्द आदि अपने स्वभावों से अभिन्न वस्तु है; वह अनादि-अनन्त शाश्वत पदार्थ है। उसे न तो किसी ने बनाया है और न कभी उसका नाश होता है, परन्तु अपने स्वभावों से स्थायी रहकर उसकी अवस्थाओं कर रूपान्तर होता है, वह अपनी अवस्थाएँ-पर्यायें बदलकर शक्तिरूप से मूलस्वभावरूप बना रहता है। मूलस्वभावरूप प्रत्येक पदार्थ—जीव या जड़ कभी नवीन नहीं होता और न भविष्य में कभी उसका नाश होता है; मात्र स्थायी रहकर वर्तमान अवस्था—पर्याय बदलती है। जैसे कि—जीव नित्य स्थायी रहकर अपने में भिन्न-भिन्न भाव प्रतिक्षण बदलता है—क्षण में तीव्र क्रोध करता है, और क्षण में पश्चाताप करने लगता है कि 'मैंने अपने बड़ों के सामने ऐसी बात कह दी, यह बहुत बुरा किया!' इत्यादि अनेक प्रकार के भाव जीव करता है, और बदलता है। जड़ में भी—पहले शरीर की बाल अवस्था होती है, फिर जवानी, बुढ़ापा आदि अवस्थारूप से अथवा निरोग अवस्था से रोगादि अवस्थारूप और रोग अवस्था से निरोग अवस्थारूप बदलता है। इस प्रकार

प्रत्येक जीवपदार्थ और प्रत्येक जड़ पदार्थ भिन्न-भिन्न स्थायी रहकर अपनी अवस्था में परिवर्तित होता है; जीव और जड़–दोनों के स्वभाव भिन्न हैं, दोनों का अस्तित्त्व भिन्न है। कोई एक दूसरे का कुछ नहीं करते। जड़-जड़ के स्वभाव से स्थायी रहकर बदलता है और चेतन अपने स्वभाव से स्थायी रहकर स्वभावरूप या विभावरूप बदलता है। जहाँ तक आत्मा की यथार्थ पहचान न हो, वहाँ तक विभावरूप बदलता है, और यथार्थ प्रतीति की, उतने अंश में स्वभावरूप अवस्था हुई; फिर जो कुछ रागादि विकार का अंश है, उसे स्वभावदृष्टि द्वारा पुरुषार्थ से अनुक्रम से दूर करके स्वभावरूप पूर्ण अवस्था प्रगट करेगा।–ऐसा यथार्थ भान जीवों ने अनादि काल से एक क्षणमात्र भी नहीं किया है; और यदि एक क्षणमात्र भी यथार्थरूप से ऐसे आत्मा का भान किया हो, तो उसे जन्म-मरण में भटकना न रहे–वह अल्पकाल में मुक्तदशा को प्राप्त कर ले।

इसलिए जिसे आत्मा की यथार्थ समझरूप धर्म करना है, उसे सत्समागम द्वारा शास्त्ररूपी समुद्र में से क्या ढूँढ़ना चाहिए? अनन्त ज्ञान-मुनि हो गये, उन्होंने शास्त्ररूपी समुद्र में से इस एक चैतन्यरत्न को ही प्राप्त किया है, वह चैतन्य तत्त्व कैसा है? आत्मा में दया, दानादि की वृत्तियाँ होती हैं, वे शुभ हैं, पुण्य हैं; और हिंसादि की वृत्तियाँ होती हैं, वे अशुभ हैं, पाप हैं। दोनों प्रकार की वृत्तियाँ विकार हैं, वे आत्मा का यथार्थ स्वभाव नहीं हैं। जिसप्रकार स्फटिक में काले, लाल कपड़े के सम्बन्ध से काली-लाल झलक दिखायी देती है, वह स्फटिक का मूलस्वभाव नहीं है। स्फटिक का मूलस्वभाव तो उज्जवल लाल-काली झलकरहित है। उसी प्रकार इस चैतन्यरत्न में पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, वह उसका यथार्थ स्वभाव नहीं है, वह विकार है और दूर करने से दूर हो जाता है; इसलिए वास्तव में पुण्य-पाप आत्मा के नहीं हैं।

शरीर, मन, वाणी आदि पर पदार्थों का तो आत्मा में त्रिकाल अभाव है, क्योंकि प्रत्येक तत्त्व अपनेरूप से है और वही तत्त्व पररूप से नहीं है; आत्मा-चैतन्यरत्न अपनेरूप से है और वही चैतन्यरत्न शरीरादि से नहीं है, इसलिए चैतन्य का शरीरादि मे अभाव है और शरीरादि का चैतन्य में अभाव है। इससे चेतन और जड़ तत्त्व त्रिकाल भिन्न वर्त रहे हैं; और जीव का स्वभाव कैसा है कि–

'जिम निरमलता रे रतन स्फटिक तणी,
तिम रे जीव स्वभाव;
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो,
प्रबल कषाय अभाव.....श्री०'

इस प्रकार शरीर, मन, तथा वाणी से भिन्न और रागादि विकार से रहित–ऐसे अपने चैतन्यरत्न का निर्णय करना कि 'मैं त्रिकाली शुद्ध स्वाभाविक एक चैतन्यरत्न हूँ, उसे भगवान धर्म कहते है।'

प्रश्न :– यह तो समझने की बात कही; लेकिन हमें क्या करना चाहिए?

उत्तर :– भाई! क्या करना चाहिए? और जीव क्या कर सकता है? उसी का यह उत्तर है। आत्मा में पर का अभाव है और पर में आत्मा का–इससे वे एक दूसरे का कुछ नहीं कर सकते। अज्ञानी को इस प्रकार पदार्थ के भिन्नत्व का–पृथक्त्व का ज्ञान न होने से पर से भिन्न आत्मा का पृथक्त्व उसके श्रद्धा और ज्ञान में एक क्षणमात्र भी नहीं आता; इससे पर का करूँ–ऐसी भ्रमणा होती है।

आत्मा, परपदार्थ का तो कुछ करता नहीं है, परन्तु जो पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, वे भी कृत्रिम हैं, क्षणिक औपाधिकभाव हैं, उनसे आत्मा का धर्म नहीं होता। अज्ञानी की–पुण्य पाप हैं, वह मैं हूँ, पुण्य-पाप मेरे हैं, इनसे मुझे धर्म होता है–ऐसी बुद्धि दूर नहीं होती। पुण्य-पाप विकार हैं, विकार से आत्मा का निर्विकार धर्म नहीं होता। अज्ञानी को यह मान्यता बदलना ही पड़ेगी कि–विकार से धर्म होता है; मान्यता बदलने के अतिरिक्त धर्म का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

शरीर, वाणी तथा मन के रजकण त्रिकाली स्वतन्त्र पदार्थ हैं। उन रजकणों में रूपान्तर–भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। उन पृथक्-पृथक् अवस्था में आत्मा को कोई अवस्था अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है। शरीर के रजकणों में निरोग अवस्था आत्मा को अनुकूल नहीं है और उनमें रोग अवस्था आत्मा को प्रतिकूल भी नहीं है, वह तो ज्ञाता का–चैतन्यतत्त्व का ज्ञेय है। ज्ञाता चैतन्यतत्त्व को भूलकर पर से मुझे लाभ-हानि होते हैं–ऐसी मान्यता करे, वह उसका भ्रम है, अज्ञान है। उसे दूर करने का उपाय चैतन्यतत्त्व को यथार्थरूप से जानना है। भगवान सर्वज्ञों ने यह एक ही उपाय कहा है; तथा अनन्त-ज्ञानियों ने सन्त-मुनियों ने शास्त्ररूपी समुद्र में से यह सार निकाला है कि–चैतन्यतत्त्व की रुचि करो और पर की रुचि को छोड़ दो।

आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्द-वीर्य इत्यादि अनन्त गुणों का पिण्ड परमात्मा है। उसमें शक्तिरूप से परमात्मपना भर हुआ है, और अवस्था में सम्यक्ज्ञान के पुरुषार्थ द्वारा वह व्यक्त होता है। यदि उसमें परमात्मपना शक्तिरूप से नहीं हो तो वह अवस्था में व्यक्तिरूप से–प्रगटरूप से कहाँ से आये? जिसमें न हो, उसमें से नहीं आता–अभाव में से परमात्मपना नहीं आता। और जो परमात्मपना प्रगट होता है, वह बाहर से–शरीर की क्रिया से या दया-दान, व्रत-तपादि शुभभावों से प्रगट नहीं होता। शरीर और उसकी क्रिया जड़ है, रूपी है; उसमें से या उससे चैतन्य का परमात्मपना-मोक्ष-पूर्ण निर्विकार शान्तदशा प्रगट नहीं होती; दया-दानादि शुभभाव, चेतन का विकार है; विकार में से निर्विकारीदशा प्रगट नहीं होती। परन्तु अन्तर चैतन्यस्वभाव में ज्ञानादि अनन्त त्रिकाली शक्तियाँ भरी हुई हैं, उनमें से चैतन्य की पूर्णदशा (मोक्ष) प्रगट होती है। जिस

प्रकार मोर के अण्डे में साढ़े तीन हाथ का रंग-बिरंगा मोर होने की शक्ति है; अण्डे में मोर होने की शक्ति मोरनी के पंखों द्वारा सेये जाने से नहीं आयी है। यदि मोरनी के पंखों के कारण मोर होने की शक्ति आयी हो तो चिड़िया के अण्डे को सेने से उसमें से भी मोर होना चाहिए, लेकिन वैसा नहीं होता। इसलिए मोरनी के पंखों द्वारा सेये जाने से मोर के अण्डे में मोर होने की शक्ति नहीं आयी है; और अण्डे ऊपर जो सफेद छिलका है, उसके कारण भी मोर होने की शक्ति नहीं आयी है; क्योंकि मोर तो उस छिलके को फोड़कर, छिलके का नाश करके अण्डे में से बाहर आता है; सफेद छिलका फट जाने के बाद मोर बाहर आता है; इसलिए छिलका मोर होने का कारण नहीं है; परन्तु अण्डे के अन्दर जो रस भरा है, उस रस में मोर होने की शक्ति है; उसमें से मोर होता है। उसी प्रकार शरीर की क्रिया मोरनी की आँखों के समान पर-पदार्थ की क्रिया है, उससे आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता, आत्मा का परमात्म स्वभाव प्रगट नहीं होता। और अण्डे के छिलके के समान व्रत, तप, दया, दान आदि शुभभावों में से धर्म नहीं होता। शुभभाव विकार हैं, उस विकार का नाश-व्यय करने से धर्म प्रगट होता है; इसलिए शुभभावों से आत्मा का परमात्मस्वभाव प्रगट नहीं होता। आत्मा का परमात्म-स्वभाव तो अन्तर में जो ज्ञानादि शक्तियों का रस भरा हुआ है, उसमें से प्रगट होता है।

जीव चैतन्यस्वभाव से च्युत होकर पर की, पुण्य की रुचि करता है, वही भावमरण है। श्रीमद् राजचन्द्रजी १६ वर्ष की आयु में कहते हैं कि–

'बहु पुण्य केरा पुंजथी, शुभदेह मानवनो मल्यो;
तोये अरे! भवचक्रनो, आंटो नहि एक्के टल्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टले छे, लेश ऐ लक्षे लहो;
क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे, कां अहो राची रह्यो?'

ज्ञानी, जगत के जीवों से कहते हैं कि हे जीवो! बहुत समय में महान पुण्य के योग से यह मनुष्य भव मिलता है। जीवों का अधिकांश भाग अज्ञान, मिथ्यात्व तथा राग-द्वेष की तीव्रता के कारण निगोद-आलू, शकरकन्द और नीम, पीपल आदि एकेन्द्रिय के भावों में जन्म-मरण करता है; अनेक जीव लट आदि दोइन्द्रिय, चिंवटी-चिंवटा आदि तीन इन्द्रिय इत्यादि योनियों में जन्म-मरण करते हैं। उन सब में मनुष्यभव की प्राप्ति महान दुर्लभ है। महान पुण्य समूह से मनुष्यभव, आर्यकुल, सत्समागम का योग मिलता है। मनुष्यदेह को इसलिए शुभदेह कहा जाता है, कि– मनुष्यभव में 'शरीरादि पर-पदार्थों से भिन्न, और मिथ्यात्व, राग-द्वेष के विकारों से रहित आत्मा का स्वरूप शुद्धज्ञानानन्द है'–ऐसे सत् श्रवण का और सत् समझने का अवकाश, (यदि जीव स्वयं

सत्समागम करके सत् समझने का पुरुषार्थ करे तो) मुख्य है। अनन्तकाल में दुर्लभ मनुष्यभव मिले और यथार्थ समझने की जिज्ञासा या परिश्रम न करे तो उस मनुष्यभव में और कौऐ–कुत्ते के भव में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि अन्य प्राणी भी आहार-भय आदि चार संज्ञाओं में जीवन व्यतीत करते हैं; और इसने मनुष्यभव में भी यही काम किया, तो फिर मनुष्यभव में और दूसरे क्षुद्र भवों में क्या अन्तर रहा? मनुष्यभव में तो, अन्य भवौ में दुर्लभ ऐसा आत्मा का यथार्थ ज्ञान करने का प्रयोजन है। और ऐसा भान, यथार्थ पहचान करे, तब उपचार से देह को भी शुभ मानवदेह कहा जाता है।

ज्ञानी कहते हैं कि –ऐसा मनुष्य भव मिला, सत्य समझने का अवसर प्राप्त हुआ, तब भी अरे! भवचक्र का एक भी चक्कर पूरा नहीं हुआ। यहाँ एक की बात ली है, परन्तु स्वभावदृष्टि होने से, एक चक्कर दूर हुआ, वहाँ सभी चक्कर दूर हो गये। स्वभाव का भान होने के पश्चात् जीव को भवचक्र में भ्रमण करना नहीं रहता; पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण अल्प रागादि रहें तो उन्हें एक –दो भव में स्वभावदृष्टि के बल से पुरुषार्थ की वृद्धि करके दूर कर देगा और पूर्ण परमात्मा हो जायेगा।

जगत के जीवों को, 'आत्मा का सुख आत्मा में है; पर-पदार्थों में आत्मा सुख नहीं है, इन्द्रिय विषयों में सुख नहीं है'–ऐसा भान नहीं है, इससे वे बाहर से सुख प्राप्त करना चाहते हैं और उसी का परिश्रम करते हैं। ज्ञानी उनसे कहते हैं कि भाई! तुम इन्द्रिय-सुख-जोकि वास्तविक सुख नहीं है- को प्राप्त करना चाहते हो, परन्तु उसे प्राप्त करते समय, पर में सुख है–ऐसी मिथ्या मान्यता में अन्तर अविनाशीचैतन्य के विषयातीत, इन्द्रियातीत अनाकुल सुख का घात होता है; अन्तरंग अनाकुल सुख नष्ट हो जाता है; मिथ्या मान्यता के कारण तथा रागादि आकुलता के कारण अवस्था में सहज स्वाभाविक सुख का नाश होता है;– इस बात को किंचित् तो लक्ष में लो! भान करके स्वभाव में विशेष रमणतापूर्वक स्थित हो जाने की बात तो दूर रही, लेकिन पहले इतना तो लक्ष्य में लो! और इस ज्ञानानन्द सुखस्वभावी आत्मा का भान किये बिना–'यह शरीर मैं हूँ, पुण्य-पाप मेरा स्वभाव है, पुण्य-पाप के विकारी भावों से मुझे सुख होता है'–ऐसी मिथ्या मान्यतारूप भावमरण में प्रतिसमय क्यों लीन हो रहो हो?

देखो भाई! आत्मा को चौरासी के अवतारों में भटकते हुए अनन्तकाल हो गया, क्योंकि आत्मा अनादिकालीन तत्त्व है। आत्मा अनादिकालीन तत्त्व है, तो उसने अभीतक का अनन्तकाल कहाँ व्यतीत किया? यदि वह मुक्त हुआ हो तो फिर उसे अवतार न हो; इससे अभी तक जीव अनन्त संसार में ही परिभ्रमण कर रहा है। आत्मा अपनी अवस्था में अनादि से अशुद्ध है, वह

न्याय द्वारा समझाया जाता हैः–जो जीव वर्तमान में भी क्रोधादि विकारों को कम करना चाहता है, वह फिर से विशेष विकार नहीं होने देता। तब फिर जिसने स्वभाव का सम्यग्ज्ञान करके पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा सर्वथा विकार को दूर किया और परमात्मा हो गया, उसके फिर से विकार हो–ऐसा हो ही नहीं सकता। इसलिए जीव पहले शुद्ध था और फिर विकारी हुआ–ऐसा नहीं है; परन्तु वह अनादि से अवस्था में भूलयुक्त–विकारयुक्त है।

अनादि संसार में जीव अनन्तबार पुण्य-पाप करके चार गतियों में भटका है; परन्तु पुण्य-पापरहित ज्ञानमूर्ति चैतन्यतत्त्व की एक क्षण भी प्रतीति नहीं की है। विकार और पर के द्वारा कल्याण मानकर चैतन्य के कल्याण से च्युत हो गया है; चैतन्य के कल्याण से च्युत हो जाने को ही भयंकर भावमरण कहते हैं। वह भावमरण ही चैतन्य भगवान के स्वपद की हिंसा है और वही स्वपद का अनादर है।

समस्त शास्त्रों के सार में ज्ञानियों ने इस ज्ञानानन्द, पर से–विकार से भिन्न चैतन्यरत्न को ही पहिचानने के लिए कहा है। और पूर्व के प्रारब्ध के कारण जो संयोग-वियोग होते हैं, वह चैतन्य नहीं है, तथा वह प्रारब्ध भी आत्मा का नहीं है, और जिस भाव से प्रारब्ध का बन्ध हुआ, वह भाव भी आत्मा नहीं है। शरीरादि संयोगों से भिन्न, संयोगों का निमित्त जो प्रारब्ध है, उससे भी भिन्न और प्रारब्ध के निमित्त शुभाशुभ विकार से भी रहित–ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान करे, वह परमात्मा होता है। परमात्मा होने के पश्चात् उसे अवतार नहीं होते।

संसार में–लौकिक में भी जो जीव परस्त्री आदि का राग कम करता है, वह वैसा राग नहीं होने देता; तो फिर, जिसने रागरहित त्रिकाली आत्मस्वभाव को जानकर, विकाररहित दशा प्रगट की है, वह जीव पुनः विकार करके अवतार धारण करे–ऐसा नहीं हो सकता।

समाज की लौकिक नीति में भी परस्त्री त्याग आदि तो होता ही है। वह तो साधारण बात है; इतना तो लौकिक में भी होता ही है–ऐसा मानकर, यह आगे आत्मा की यथार्थ समझ की अपूर्व बात हो रही है।

चैतन्यस्वभाव की सच्ची जानकारी किए बिना जीव अनादि से शुभ और अशुभ विकार करके चार गतियों में भ्रमण करता है। हिंसा आदि के तीव्र पाप-परिणामों के फल में वह नरक में उत्पन्न होता है। तीव्र माया, कुटिलता के फल में वह पशुगति में जाता है। भद्रिक परिणामों के फल में वह मनुष्य में जन्म लेता है, और कोई दया-दानादि के शुभभाव किये हों तो उनके फलस्वरूप देव में जाता है। इस प्रकार नरकादि गतियाँ हैं और वे न्याय से सिद्ध होती हैं। जैसे कि -प्रतिकूल जीवों को मार डालने के क्रूर भावों का फल नरक है। वास्तव में कोई जीव किसी को प्रतिकूल

नहीं है, परन्तु जीव ने कल्पना की है कि यह मुझे प्रतिकूल है। सामनेवाले जीवों को मार डालने के क्रूर भाव में जीवों को मारने की संख्या का अथवा काल का माप नहीं है, उसके परिणामों में क्रूरता का इतना अधिक बल है कि सामने चाहे जितने जीव हों, और चाहे जितने समय तक मारना पड़े तो भी सब को मार डालूँ;—ऐसे तीव्र क्रूर परिणामों का फल इस मनुष्य भव में नहीं है, किन्तु उसका फल तो नरक में है।

जिस जीव ने पुण्य-पाप को अधिक माना और चैतन्य की अधिकता को भूला, उसने पुण्य की वृत्ति का अहंकार किया है। पुण्य की अपेक्षा चैतन्य की अधिकता नहीं मानी, परन्तु पुण्य की अधिकता को माना। उसे उस पुण्य के फल में अधिकता भासित होती है, और उसमें अभिमान करता है। शास्त्रकार आचार्य भगवान कहते हैं कि यह एक चैतन्य ही परमरत्न है। शास्त्ररूपी समुद्र में से यह एक चैतन्यरत्न ही ज्ञानियों ने निकाला है। एकत्व चैतन्यस्वभाव को पहचानना ही शास्त्रों का सार है। 'शुभ और अशुभ विकार मैं नहीं हूँ, मैं तो विकाररहित चैतन्य ज्ञानानन्द हूँ'—ऐसा स्वभाव का बल होने से विकार दूर हुए बिना नहीं रहता। इस प्रकार चैतन्य को जाने बिना जो कुछ जितना किया जाता है, वह सब राख पर लीपने के समान है।

चैतन्यस्वभाव के भान बिना जो कुछ पुण्य किया जाये, वह राख पर लीपने के समान है। जैसे-एक हाथ ऊँचे जमे हुए राख के ढ़ेर पर लीपन किया जाये तो वह उसके ऊपर नहीं रह सकता; जहाँ थोड़ा सूखेगा कि छाले उधड़ने लगेंगे; लीपन तो पक्की जमीन पर किया जाता है, राख वाली जमीन पर लीपन नहीं रह सकता; उसी प्रकार त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के भान बिना परलक्ष्य से जो कुछ पुण्य किया जाता है, वह राख पर लीपन समान है। स्वभाव का भान नहीं है—इससे कुछ ही समय में वह पुण्य पलटकर पाप हो जायेगा। उसका पुण्य अधिक समय तक नहीं टिक सकेगा।

यह चैतन्य एक परमरत्न है। जड़ रत्न को जाननेवाला भी मैं हूँ। उस जड़ रत्न की महिमा नहीं है; परन्तु अहो! मैं चैतन्य ज्ञातारत्न हूँ और पुण्य-पाप, वह अपराध है—इस प्रकार अपराधरहित चैतन्यरत्न को जानना, उसका नाम धर्म है। इस चैतन्यरत्न की प्रतीति किए बिना मिथ्यादृष्टि ने चौरासी लाख योनियों में अवतार किये हैं। चैतन्यस्वभाव की महिमा न आने से जिसने पुण्य-पाप को अधिकता दी, उसने चैतन्य के जीवन का खून किया है, और वही भावमरण है। चैतन्यस्वभाव को समझे बिना वह भावमरण दूर नहीं हो सकता।

प्रश्नः—अनन्तकाल से समझ में नहीं आया तो अब कैसे समझ में आयेगा?

उत्तरः—अनन्तकाल से आत्मा को नहीं समझा तो क्या अब की बार समझ में नहीं आयेगा? क्या समझने की शक्ति कहीं चली गई है? जिस प्रकार पानी, अग्नि के निमित्त से सैकड़ों

वर्ष तक गरम रहने पर भी, क्या उसका शीतल स्वभाव नष्ट हो गया है? चूल्हे पर रखा हुआ पानी ढुल जाने से वही अग्नि के नाश करने की शक्तिवाला है; उसी प्रकार अनन्तकाल से विपरीत रुचि के कारण आत्मा को नहीं समझा है; परन्तु अब यदि सीधी रुचि में गुलांट मारे तो समझ में आ सकता है। ज्ञान में गुलांट मारनेरूप जो क्रिया होती है, वह ज्ञानक्रिया जगत नहीं मानता। कुछ बाह्य का करना जगत चाहता है। कोई शरीर की क्रिया, पुण्य के भाव करने को कहो तो ठीक, लेकिन भाई! जो उपाय है, वही बतलाया जाता है। जैसे-किसी एक मनुष्य के नाम सम्बन्धी अज्ञान उसका नाम जान लेने से दूर हो जाता है; अन्य चाहे जितनी क्रियाएँ करें,–जेब से निकालकर किसी को रुपया दे दे, धूप में खड़ा रहकर शरीर को सुखा डाले अथवा एक महीने के उपवास करले, लेकिन वे सब सामनेवाले मनुष्य के नाम का अज्ञान दूर करने के उपाय नहीं हैं। उसी प्रकार आत्मा सम्बन्धी अज्ञान, आत्मा के ज्ञान की क्रिया से ही दूर होता है। जोड़ में भूल हो तो वह किसी को रुपये दे देने से दूर नहीं हो सकती; परन्तु जहाँ भूल हुई हो, उसे जानकर दूर करे तो हो सकती है; उसी प्रकार चैतन्य में जो शुभाशुभ विकार है, उसे मूलस्वरूप माना है, वह जोड़ में भूल है, उसके बदले–मैं चैतन्य हूँ, पुण्य-पाप मेरे स्वभाव में नहीं हैं–ऐसी यथार्थ समझ करने से वह दूर हो जाती है। अन्धकार को दूर करने के लिए प्रकाश ही उपाय है; प्रकाश होने से अन्धकार दूर हो जाता है, दूर नहीं करना पड़ता। चैतन्य का विश्वास करे, तो अनन्तकाल की मिथ्या-मान्यता एकक्षण में दूर हो जाती है। श्रीमद् राजचन्द्रजी आत्मसिद्धि में कहते हैं कि –

'कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय;
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय।;

सत्समागम और पात्रता के बिना आत्मस्वरूप समझ में नहीं आता। यदि स्वरूप का भान करे तो एकक्षण में अनादि का विभाव दूर हो जाये।

अहा! मेरा आनन्द स्वभाव है, सुख मेरा स्वभाव है, पर में सुख नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि हे अज्ञानी! यदि तूने पर में कहीं भी सुख देखा हो तो बतला! और जो हम कहते हैं, उस चैतन्य की प्रतीति में कहीं दुःख लगा हो तो वह बतला! भाई! अनन्तकाल से यह मार्ग नहीं जाना है, इसलिए उसे समझने का प्रयत्न कर! मुनियों ने, ज्ञानियों ने, आत्मार्थियों ने शास्त्रों में से इस चैतन्य को ही ढूँढ़ा है; यही अनन्तकालीन मिथ्यात्वरूपी भूल को दूर करने का उपाय है। इसलिए समस्त शास्त्रों को मथकर मक्खन निकाला जाये तो अहो! 'मैं चैतन्य शुद्ध चिदानन्द हूँ'– ऐसा यह एक ही चैतन्यरत्न निकलता है। जिसने इसे समझा, उसने सर्वशास्त्रों का सार समझ लिया है; और यदि यह न समझा तो उसने कुछ भी नहीं किया है।

अहिंसा धर्म

बांकानेर में पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन

[पद्मनन्दि पंचविंशतिका, एकत्व अधिकार गाथा ५६ संवत् २४७६ फाल्गुन कृष्णा सप्तमी]

आत्मा अनादि से है; उसे किसी ने बनाया नहीं है और न उसका कभी नाश होता है। अपने मूलस्वरूप को भूलकर जीव अनादि से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। आत्मा का अनादि से न जाना हुआ स्वभाव क्या है? सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को कैसा कहा है? उसकी यह बात है। यह शरीर, मन और वाणी तो जड़ हैं, उनसे आत्मा बिलकुल भिन्न है; और आत्मा की अवस्था में वर्तमान प्रतिसमय जो कृत्रिम पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उनसे भी आत्मा का मूलस्वभाव भिन्न है। शरीर से पृथक् और पुण्य-पाप की विकारी वृत्तिओं से रहित, आत्मा सदैव ज्ञानमूर्ति है; ऐसे त्रिकाली आत्मस्वभाव की श्रद्धा तथा ज्ञान करके उसमें एकाग्र होना, वह मंगल है। कहा है कि–

धम्मो मंगलं उक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तओ।
देवावि तं णमं संति, जस्स धम्मे सया मणो।।

धर्म उत्कृष्ट मंगल है, और वह अहिंसा, संयम, तप है। जिसका मन सदैव धर्म में रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं। जगत में पुत्र का जन्म हो, लक्ष्मी की प्राप्ति हो अथवा पुत्र का विवाह हो तो वह वास्तव में कहीं मंगल नहीं है, परन्तु धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। वह धर्म किसे कहा जाये? अहिंसा वह धर्म है। परन्तु अहिंसा किसे कहा जाये? अहिंसा का सच्चा स्वरूप क्या है? परजीव की दया इत्यादि शुभपरिणामों को लोग अहिंसा मानते हैं, परन्तु वास्तव में वह अहिंसाधर्म नहीं है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा साक्षीस्वरूप है, परजीवों को मारने या बचाने की क्रिया उसके आधीन नहीं है; और उसकी अवस्था में जो दया-हिंसा की अथवा पुण्य-पाप की वृत्तियाँ हों, वह विकार है, उस विकार को आत्मा का स्वरूप मानना, वह आत्मा के स्वभाव की महान हिंसा है, और उस विकाररहित आत्मा के ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके जितने अंश में रागरहित दशा उत्पन्न हो, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं। ऐसी अहिंसा वह धर्म है, और धर्म उत्कृष्ट मंगल है। एक क्षण भी ऐस धर्म प्रगट करे, उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा चैतन्यमूर्ति है; वह कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, और उसका कभी नाश नहीं होतो। प्रत्येक आत्मा ज्ञान-दर्शन से भरा हुआ परिपूर्ण पदार्थ है। अनन्तकाल में सत्समागम से, पात्रता से कभी अपने आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करके जीव ने सच्ची अहिंसा प्रगट नहीं की है। पर प्राणी को न मारना, उसे लोग अहिंसा कहते हैं, परन्तु भगवान उसे अहिंसा नहीं कहते। 'मैं पर

को मार या बचा सकता हूँ और पर की दया के शुभपरिणामों से मुझे धर्म होता है'–ऐसी मिथ्या मान्यता से अपने आत्मा का घात करता है, वह हिंसा है। परजीव का मरना या बचना और सुखी-दुःखी होना, वह इस जीव के आधीन नहीं है। परजीव को बचाने के भाव, वह दया है, शुभभाव है, उससे पाप नहीं है, परन्तु पुण्य है। जीव अपने राग के कारण पर को बचाने के भाव करता है, परन्तु पर को बचाने में कोई समर्थ नहीं है, क्योंकि जगत् में प्रत्येक तत्त्व का बदलना स्वाधीनरूप से हो रहा है। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि हे आत्मा! तेरा स्वभाव विकाररहित है, उसकी प्रतीति और रुचि करके उसे विकार से बचाना, वह अहिंसा है। ऐसी अहिंसा, वह धर्म है; धर्म, वह मंगल है, और वैसे धर्मवन्त जीवों को देव भी वन्दन करते हैं।

जिसप्रकार स्फटिक का मूलस्वभाव निर्मल है, उसमें लाल-काले फूलों के संयोग से जो लाल-काली झलक दिखायी देती है, वह उसका मूलस्वभाव नहीं है, परन्तु वर्तमान अवस्था की योग्यता है। उसी प्रकार चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा, जड़ शरीर से भिन्न तत्त्व है, उसके मूलस्वभाव में पुण्य-पाप की झलक नहीं है। परसंयोग के लक्ष्य से जो पुण्य-पाप के परिणाम हो हैं, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। निचलीदशा में धर्मी को इच्छा होती अवश्य है, परन्तु वह जानता है कि इच्छा विकार है, वह मेरा स्वभाव नहीं है; मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ। स्फटिक के स्वच्छ स्वभाव की भाँति आत्मा निर्मल श्रद्धा-ज्ञानस्वरूप है, इच्छा उसके स्वभाव में नहीं है। जो इच्छा होती है, उससे स्वभाव में लाभ नहीं है और उस इच्छा के द्वारा पर में भी कुछ कार्य नहीं हो सकता; इस प्रकार इच्छा स्वभाव में और पर में निरर्थक है। इस प्रकार यदि इच्छा को निरर्थक जाने तो उस इच्छा से भिन्न अपने स्वभाव को पहचानकर उस ओर उन्मुख हो। जितनी शुभ या अशुभ इच्छा की उत्पत्ति होती है, वह हिंसा है और स्वभावोन्मुख रहने से इच्छा की उत्पत्ति ही न हो, वह अहिंसा है। प्राणों से प्यारा पुत्र मरता हो, उसे बचाने की बहुत इच्छा करता है, तथापि उस इच्छा के कारण पुत्र नहीं बचता। इस प्रकार इच्छा के कारण पर का कार्य नहीं होता, और वह इच्छा आत्मा का स्वभाव भी नहीं है। ऐसे इच्छारहित ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें रागरहित रूप से स्थिर होना, उसे भगवान सर्वज्ञदेव अहिंसा कहते हैं–ऐसी अहिंसा, वह मुक्ति का कारण है। निकट रहनेवाला यह शरीर भी आत्मा की इच्छा के आधीन कार्य नहीं करता, तो फिर दूसरे पदार्थों में तो आत्मा क्या करेगा? दयादि शुभ इच्छा करके मैं पर को सहायक हो सकता हूँ और हिंसादि पाप भावों की इच्छा से मै पर को हानि पहुँचा सकता हूँ–ऐसा अज्ञानी मानता है। मैं पर का ज्ञाता नहीं परन्तु पर को लाभ-हानि पहुँचानेवाला हूँ–ऐसा जिसने माना, उसने अपने ज्ञानस्वभाव की हिंसा की है। जिस प्रकार स्फटिक में काली-लाल झलक देखकर मूर्ख आदमी

उस स्फटिक को ही काला-लाल मान लेता है, परन्तु समझदार व्यक्ति तो जानता है कि स्फटिक में काली-लाल झलक क्षणिक है, स्फटिक का मूलस्वरूप काला-लाल नहीं है। उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में क्षणिक पाप या पुण्य के भाव देखकर अधर्मी जीव तो सम्पूर्ण आत्मा को ही पुण्य-पापमय मान लेता है, परन्तु धर्मी जीव तो जानता है कि यह पुण्य-पाप वर्तमान पर्यन्त हैं, इन पुण्य-पाप जितना आत्मा का स्वरूप नहीं है। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके आत्मा के स्वरूप में एकाग्र होने से विकार की उत्पत्ति ही नहीं होती;–इससे उसने अपने आत्मा को विकार से उबार लिया है, वह परमार्थ से अहिंसा धर्म है। ऐसे आत्मस्वभाव का भान करना, वह अपूर्व है। आत्मा के भान बिना शुभरागरूप अहिंसा तो जीव ने अनन्तबार की है, उसमें आत्मा का कल्याण नहीं है। आत्मभान के बिना शुभ और अशुभ करके अनन्तकाल से जीव चार गतियों में परिभ्रमण कर रहा है। पापभाव करके नरक-तिर्यंचगति में गया है, और पुण्यभाव करके महान राजा अथवा देव भी अनन्तबार हुआ है–वह कुछ अपूर्व नहीं है। पूर्व अनन्तकाल में जितना कर चुका है, वह कुछ अपूर्व नहीं है और उसमें आत्मा का कल्याण नहीं है।

अहो! आत्मभान होने के पश्चात् भी पञ्च महाव्रत के शुभराग की जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह भी हिंसा है; तब फिर अज्ञानी के शुभपरिणामों की तो बात ही कहाँ रही? एक सामान्य भक्ति-दयादि के शुभपरिणाम हों, उन्हें अज्ञानी, धर्म का कारण मान बैठते हैं, परन्तु भगवान तो कहते हैं कि–अशुभराग की भाँति शुभराग द्वारा भी आत्मा की हिंसा होती है, और उस राग से धर्म माने, उसमें तो मिथ्यात्वरूप महान् हिंसा है, तथा यही आत्मा का भावमरण है। अनादिकाल से प्रतिक्षण ऐसे भावमरण में जीव मर रहा है। भगवान चिदानन्द आत्मा के स्वभाव में दयादि अथवा हिंसादि के भाव हों, वह विकार है। अनादि से विकाररहित अपने स्वभाव का विश्वास नहीं किया है और विकार को ही अपना स्वरूप मानकर अपनी हिंसा की है। जिसप्रकार कस्तूरीवाले मृग की नाभि में कस्तूरी भरी हुई है, लेकिन उसे उसका विश्वास नहीं है, इससे बाह्य में भटकता है; उसी प्रकार आत्मा का विकाररहित चिदानन्दस्वभाव है, उसका विश्वास छोड़कर बाह्य में भ्रमण करता है। अन्तरङ्ग स्वभाव का विश्वास करके उसमें एकाग्र होने का नाम धर्म है, और वह मोक्ष का मंगल है। मंग का अर्थ है पवित्रता; उसे जो लाये, वह मंगल है। मंगल का यह अर्थ अस्ति से है। और मम् का अर्थ है, अहंकार, उसे जो गला दे, वह मंगल है। यह अर्थ नास्ति से है। जिस भाव से आत्मा में पवित्रता की प्राप्ति हो और अपवित्रता दूर हो, उस भाव को मंगल कहते हैं। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, वह मंगल है; वही अहिंसा है और वही उत्कृष्ट धर्म है।–इस प्रकार मांगलिक हुआ।

अब श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका के एकत्व अधिकार की ५६ वीं गाथा पढ़ी जाती है; उसमें श्री आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा में एकत्व हो, वही प्रयोजन है और वही शान्त तथा सुखी होने का उपाय है –

एवं सति यदेवास्ति तदस्तु किमिहापरैः।
आसाद्यात्मन्निदं तत्त्वं शान्तो भव सुखी भव॥५६॥

इस प्रकार आत्मा के एकत्व-स्वभाव के चिन्तवन से जो होता है, वह होओ! इसके अतिरिक्त दूसरे विचारों से क्या प्रयोजन है? इस प्रकार वास्तविक स्वरूप को प्राप्त, अरे आत्मा! तू शान्त हो, सुखी हो!–इस प्रकार ज्ञान अपने आत्मा को शिक्षा देता है।

जिस प्रकार पिता, पुत्र को शिक्षा देता है कि भाई! तू अपना गृह छोड़कर बाहर-दूसरों के घर मत जा! उसी प्रकार यहाँ सम्यग्ज्ञान अपने आत्मा को सीख देता है कि हे आत्मा! पुण्य-पापरहित एकत्व-स्वभाव के चिन्तवन से जो निर्मलभाव प्रगट होता है, वह प्रगटो! आत्मस्वभाव के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं की चिन्ता से तुझे इस जगत में क्या प्रयोजन है? यहाँ कहा है कि 'जो होता है, वह होओ!'–इसका अर्थ क्या? दूसरा कुछ नहीं होता, परन्तु आत्मा के एकत्व स्वभाव के चिन्तवन से तो निर्मलदशा प्रगट होकर आत्मा में अभेद होती जाती है। स्वभाव के लक्ष्य से निर्मल-पर्याय अवश्य होती जाती है, परन्तु उसे पर्याय पर धर्मी की दृष्टि नहीं है; इससे कहा है कि एकत्व-स्वभाव के चिन्तवन से जो होता है, होओ! अर्थात् मेरा जो निर्मलानन्द स्वभाव है, वह प्रगट होओ! उसके अतिरिक्त मुझे अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है।

आत्मा शरीरादि से भिन्न है, और अवस्था में जो अनेक प्रकार के रागादि विकारीभाव होते हैं, वे भी आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं। अनन्तगुण-पर्यायों से अभेद एकाकार ज्ञानानन्दस्वभाव है; उसकी श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता से स्वभाव की दशा प्रगट होती हो तो प्रगट होओ! इसके अतिरिक्त मुझे दूसरे से क्या प्रयोजन है? यहाँ 'स्वभाव की दशा प्रगट होती हो तो प्रगट होओ!'– ऐसा कहने में निर्मलदशा प्रगट होने की शंका नहीं है; स्वभावदृष्टि के बल से निर्मलदशा तो होती है, परन्तु उस अवस्था पर दृष्टि की मुख्यता नहीं है, इसलिए–'वह दशा प्रगट होती हो तो प्रगट होओ!'– ऐसा कहकर उसकी गौणता की है। जो निर्मलदशा प्रगट होती है, वह भी स्वभाव के साथ ही एकता करती है।

जो ज्ञान जागृत हुआ है, वह स्वयं अपने आत्मा को अन्तर में समझाता है कि अरे प्रभो! अब कहाँ तक परिभ्रमण करना है? पराश्रयभाव से अनादिकाल से भटक रहा है; क्या अभी तक चौरासी के अवतारों के परिभ्रमण की थकान तुझे नहीं आयी है? अनादि से स्वभाव से च्युत होकर

पर के साथ एकत्वपना माना है। अब पर से भिन्नत्व समझकर आत्मोन्मुख हो! आत्मा के साथ एकता कर! अब मुझे आत्मा चाहिए है, अब मुझे आत्मा के चिदानन्द में एकाग्र होना है—ऐसी आत्मा की सच्ची विचारणा भी पूर्व अनन्तकाल में कभी जागृत नहीं हुई। सत्समागम से श्रवण का अवसर मिला, तब भी आत्मा की रुचिपूर्वक नहीं सुना।

लोग बाग कहते हैं कि हमारा पैसे और अनाज बिना नहीं चल सकता। यहाँ तो आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव! आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थों से तुझे क्या प्रयोजन है? आत्मा में परवस्तुओं का सदैव अभाव ही है, अर्थात् प्रत्येक आत्मा का सदैव परवस्तु के बिना ही चलता है। प्रत्येक आत्मा, परपदार्थ के अभाव में ही निभ रहा है। राग और विकार बिना नहीं चलता—ऐसा भी अज्ञानी मानते हैं। वास्तव में आत्मा के स्वभाव में तो राग और विकार का भी अभाव है; इससे धर्मी कहते हैं कि—अहो! चिदानन्दी भगवान आत्मा के अतिरिक्त दूसरों से मुझे क्या प्रयोजन है? प्रत्येक तत्त्व अनादि-अनन्त पर के अभाव में ही निभ रहा है। लेकिन मेरा पर के बिना नहीं चलेगा—ऐसी मिथ्यामान्यता और राग-द्वेष के बिना जीव ने अनादि से अवस्था में नहीं चलाया है। परन्तु वह मिथ्यामान्यता और राग-द्वेष एक-समय पर्यन्त के ही हैं; उस एक समय के विकार का त्रिकाली स्वभाव में अभाव है। यदि त्रिकाली स्वभाव में उसका अभाव न हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकता। इसलिए विकार के बिना भी आत्मा के स्वभाव का निभ रहा है। इस प्रकार पर से भिन्न और विकाररहित स्वभाव की प्रतीति तथा भावना करना, उसे भगवान धर्म कहते हैं।

प्रथम तो जैसा है, वैसा यथार्थ वस्तुस्वरूप जानना चाहिए। आत्मा का स्वभाव क्या है, और विकार क्या है? और उस विकार की मर्यादा कितनी है? लोग ऐसा मानते हैं कि हम इच्छाशक्ति से परपदार्थों के कार्य कर सकते हैं—यह मान्यता बिलकुल भ्रम है। आत्मा अपनी अवस्था में इच्छा कर सकता है, परन्तु उस इच्छा द्वारा पर में कुछ भी फेरफार करने के लिए आत्मा समर्थ नहीं है। और इच्छा है, वह दोष-विकार है, उससे आत्मा को किंचित् लाभ नहीं होता। अभी, जिसे पर के कार्य करने का अभिमान है, उसने तो पर से भिन्न आत्मा को नहीं माना है; तब फिर इच्छा से भी पार आत्मा को वह कैसे जानेगा? परपदार्थों से त्रिकाल भिन्न और क्षणपर्यंत इच्छा से भी रहित चिदानन्दस्वभाव है, उस स्वभाव को समझो! श्रद्धा करो! रुचि करो! विश्वास करो! उस स्वभाव की भावना से ही निर्मलदशा प्रगट होती है। इसलिए उस स्वभाव की भावना के अतिरिक्त अन्य किन्हीं पदार्थों से क्या प्रयोजन है?

यह एकत्व अधिकार है। वर्तमान अवस्था का स्वभाव के साथ एकत्व हो, वही धर्म है। पर के साथ और विकार के साथ एकत्व मानकर अनादि से भटक रहा है। हे आत्मा! अब बहुत

हो चुका है! अब अन्तर में स्थिर हो! अन्तर के एकत्व का विचार कर! बाहर के विचार तो अनन्तकाल तक किये हैं! अब समझने के घर में आ! चैतन्य की सच्ची समझ का मार्ग पकड़! हे आत्मा! अपनी विपरीत मान्यता में तूने अनन्त अवतार किए, परन्तु कहीं भी तेरा अन्त नहीं आया। अब तू आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रता का मार्ग लेकर शान्त हो, सुखी हो!

– इस प्रकार आत्मा का ज्ञान आत्मा को बारम्बार शिक्षा दे रहा है। यहाँ–'ज्ञान आत्मा को शिक्षा दे रहा है'–ऐसा कहने में यह आशय आ जाताा है कि आत्मा जब सत्य समझता है, तब वह अपने ज्ञान से ही समझता है। किन्हीं दूसरे सुनानेवालों आदि पर से नहीं समझता। तीर्थङ्करादि पर तो अनन्तकाल में मिले, साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान का उपदेश सुना, तथापि नहीं समझ सका। समझनेवाला स्वयं अपने ज्ञान से न समझे तो पर निमित्त उसे क्या करें? इसलिए हे जीव! अब तू अपने ज्ञान से समझ! अभी तक स्वयं समझने की योग्यता प्रगट नहीं की, इससे नहीं समझ सका। कोई निमित्त न मिलने के कारण नहीं समझा–ऐसा नहीं है। अब तू स्वयं अपने ज्ञान से समझे तो समझ में आ सकता है। आत्मा के एकत्वस्वभाव के आश्रय से ही शान्त और सुखी हुआ जाता है; इसलिए हे जीव! तू आत्मा की प्रतीति करके सुखी और शान्त होने का मार्ग अन्तर में ले।

मोक्ष और बन्ध का कारण

साधक जीव को जब तक रत्नत्रयभाव की पूर्णता नहीं होती, वहाँ तक उसे कर्म का जो बन्धन होता है– उसमें रत्नत्रय का दोष नहीं है। रत्नत्रय तो मोक्ष के ही साधक हैं, वे बन्ध के कारण नहीं होते; परन्तु उस समय रत्नत्रयभाव का विरोधी जो रागांश होता है, वही बन्ध का कारण है।

जीव को जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, उतने अंश में बन्धन नहीं होता, उसके साथ जितने अंश में राग है– उस रागांश से उतने ही अंश में बन्धन होता है।

[पुरुषार्थसिद्धि उपाय गाथा २१२-२१५]

अज्ञानी की उलटी दौड़

[पद्मनन्दि एकत्व अधिकार, गाथा २६ पर चूड़ा शहर में परम पूज्यश्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

जीव अनादि से है, उसकी अवस्था में भूल भी अनादि से है। यदि स्वभाव की पहचान करके एकबार भी वह भूल सर्वथा दूर हो जाये तो पुनः न हो। वह अनादि की भूल आत्मा की सच्ची समझ से ही दूर होती है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। जिसप्रकार बहुत समय के अंधेरे को दूर करने के लिए कुदाली-फावड़े की जरूरत नहीं होती परन्तु प्रकाश द्वारा ही वह दूर होता है; उसी प्रकार आत्मा में अनादि का जो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार है, वह सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश से ही दूर होता है। वस्तुस्वभाव के यथार्थ निर्णय के बिना कभी मिथ्यात्व का या राग-द्वेष का अभाव होता ही नहीं। आत्मस्वभाव के निर्णय द्वारा ही मिथ्यात्व और विकल्पों का नाश होता है। वास्तव में उन मिथ्यात्वादि का नाश करने की बात उपचार से है। वे मिथ्यात्वादि भाव थे और उनका नाश किया– ऐसा नहीं है, किन्तु जीव अपने स्वभाव में एकाग्र हुआ, वहाँ मिथ्यात्वादि भावों की उत्पत्ति ही नहीं हुई; तब फिर नाश किसका करेगा? मिथ्यात्वादि भावों की उत्पत्ति नहीं हुई, उस अपेक्षा से उनका नाश किया–ऐसा कहा है।

पहले सत्समागम से बारम्बार श्रवण और मनन करके अन्तर में वस्तुस्वभाव को लक्ष्य में लेना चाहिए। आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनमें एक श्रद्धागुण है। उस श्रद्धागुण की वर्तमान अवस्था में अनादि से 'विकार है, वह मैं हूँ'– ऐसा मान रखा है, वह अधर्म है। राग है, वह मैं नहीं हूँ; मैं एकरूप चैतन्य-स्वरूप हूँ – इस प्रकार श्रद्धागुण की वर्तमान अवस्था में अपने शुद्धस्वभाव को धारण कर रखने का नाम अपूर्व सम्यग्दर्शन धर्म है। अनादिकाल में दूसरा सब किया परन्तु ऐसा सम्यग्दर्शन कभी एक क्षण भी प्रगट नहीं किया। अपने स्वभाव के भान बिना जीवों ने बाह्य में शरीरादि की क्रिया में धर्म मान लिया है। श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि –

दोड़त, दोड़त, दोड़त दोड़ियो, जेती मननी रे
दोड़... जिनेश्वर,
प्रेम प्रतीत विचारो ढूंकड़ी,
गुरुगम लेजो रे जोड... जिनेश्वर ध०

अहो! धर्म का मार्ग तो अन्तर में है, लेकिन अज्ञानी जीव बाह्य में दौड़ रहा है। जिस दिशा में मार्ग हो, उससे विपरीत दिशा में दौड़े तो वह कब अभीष्ट स्थान पर पहुँचेगा? प्यासे हिरन

मृगजल में भ्रम से पानी मानकर उस ओर दौड़ते ही रहते हैं; उसी प्रकार चैतन्यतत्त्व को भूले हुए अज्ञानी जीव भ्रम से बाह्य में - शरीर की क्रिया में और पूजा-भक्ति-उपवासादि पुण्य में धर्म मानकर अनादि से राग में भाग-दौड़ कर रहे हैं, परन्तु अभी तक धर्म का अंश भी हाथ नहीं लगा। कहाँ से धर्म हो? उस देह की क्रिया अथवा राग में धर्म हो, तो धर्म हो न? जिस प्रकार मृगजल में वास्तव में पानी नहीं है; उसी प्रकार अज्ञानी द्वारा मानी हुई, जड़ की क्रिया में और शुभराग में धर्म नहीं है। अनादिकाल से जीव व्रत, उपवासादि शुभभाव करता आ रहा है, तथापि अभी आत्मा की भ्रमणा दूर नहीं हुई, इसलिए धर्म का मार्ग कोई अलग ही है। मूढ़ जीव इतना भी विचार नहीं करते कि यदि देह की क्रिया से या पूजा-भक्ति आदि शुभराग से धर्म हो तो, वे भाव तो अनन्तबार किये, फिर भी मुक्ति क्यों नहीं हुई? जिस भाव से पूर्व में धर्म नहीं हुआ, उस भाव से इस समय धर्म कहाँ से होगा? मृगजल की ओर दौड़ता हुआ हिरन इतना भी विचार नहीं करता कि मैं बड़ी देर से दौड़ रहा हूँ, तो भी अभी पानी की ठण्डी हवा भी दिखलायी नहीं देती; इसलिए वहाँ पानी नहीं हो सकता। अगर पानी होता तो कुछ ठण्डी हवा तो आना चाहिए न? मृगजल की भाँति देहादि की क्रिया में और शुभराग में धर्म मानकर अनादि से व्रतादि शुभराग अनेकबार किये, तो भी अभी भवभ्रमण का अन्त दिखायी नहीं देता, और आत्मा की भ्रमणा भी दूर नहीं होती। तब फिर विचार करना चाहिए कि—कोई दूसरा मार्ग है। यदि धर्म का यथार्थ मार्ग पकड़ ले तो अपने अन्तर में विश्वास आ जाये कि अब अल्पकाल में मुक्त होना है। यदि अपने अन्तर में मुक्ति का विश्वास न आये तो वह धर्म का यथार्थ मार्ग ही नहीं है।

सूचनाएँ

आत्मधर्म के छठवें वर्ष के ग्राहकों को 'समयसार हिन्दी पद्यानुवाद' मगनलाल हीरालाल पाटनी दिगम्बर जैन पारमार्थिक ट्रस्ट मारोठ (मारवाड़) की ओर से भेंट दिया जायेगा।

आत्म धर्म का गतांक अधिक मास का अंक था, लेकिन भूल से उसे ६३ वाँ नम्बर दिया गया, इसलिए यह अंक विशेष अंक के रूप में प्रगट हो रहा है।

धर्मी जीव की मति

(श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका का एकत्व अधिकार पढ़ा जा रहा है।)

आत्मा अनादि ज्ञानस्वभावी वस्तु है। धर्म और अधर्म दोनों उसकी अवस्थाएँ हैं। आत्मा का धर्म या अधर्म आत्मा की अवस्था से पृथक् नहीं होता। आत्मा क्या वस्तु है और उसे धर्म-अधर्म कहाँ होते हैं– वह बात जीवों ने अनन्तकाल से नहीं जानी है। आत्मा कोई संयोगी वस्तु नहीं है, किन्तु स्वाभाविक वस्तु है। जिस प्रकार लकड़ी अनेक परमाणु एकत्रित होकर बनी हुई वस्तु है; उसी प्रकार आत्मा अनेक पदार्थ एकत्रित होकर नहीं बना है, परन्तु स्वतःसिद्ध अखण्ड पदार्थ है। जिस स्वरूप से आत्मा का अस्तित्व है, उसके भान बिना अन्य प्रकार से आत्मा का अस्तित्व माना है, इससे जीव संसार में परिभ्रमण करता है, वह परिभ्रमण दूर करने की यह बात है।

संयोगेन यदायातं मत्तस्तत्सकलं परम्।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमितिसे मतिः॥२७॥

सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि जो वस्तुएँ संयोग से उत्पन्न हुई हैं, वे सब मुझसे भिन्न हैं। संयोग से उत्पन्न हुई, उन समस्त वस्तुओं के त्याग से, 'मैं मुक्त हूँ'–ऐसी मेरी मति हुई है, अर्थात् मेरा स्वभाव समस्त परवस्तुओं से भिन्न मुक्तस्वरूप है– ऐसी मेरी मति हुई है। बस, 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ'–ऐसी मति हुई, वही संसार परिभ्रमण मिटाने का और मुक्तदशा प्रगट करने का उपाय है।

मैं रागी हूँ, मैं शरीरवाला हूँ–ऐसी संयोगबुद्धि–वह अधर्म है। धर्मी जीव अपने मतिज्ञान को स्वभावोन्मुख करके कहता है कि–'मुक्तोऽहं इति मे मतिः'–'मैं मुक्त हूँ–ऐसी मेरी मति है। इसप्रकार धर्मी को अपने को अपनी निःशंकता आ जाती है। संयोग से आयी हुई कोई वस्तु मेरी नहीं है। शरीर, मन, वाणी मैं नहीं हूँ और संयोग की ओर की दृष्टि से उत्पन्न हुई शुभाशुभ वृत्तियाँ भी मैं नहीं हूँ।'

धर्म करनेवाले जीव की मति कैसी होती है, अथवा कैसी मान्यता से जीव को धर्म होता है? उसकी यह बात है। यह एकत्व अधिकार है; धर्मी जीव अपने ज्ञान का एकत्व कहाँ करता है–वह बात आचार्यदेव ने इस गाथा मैं कही है। शरीर है, वह मैं हूँ अथवा राग है, वह मैं हूँ–

इस प्रकार शरीर में या राग में धर्मी जीव ज्ञान का एकत्व नहीं करता; परन्तु 'मैं मुक्तास्वरूप हूँ'–इस प्रकार अपने स्वभाव की ओर ज्ञान का एकत्व करता है। शरीर की क्रिया मैं करता हूँ और पुण्य करते-करते धर्म होगा–ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसे 'मैं मुक्त हूँ'–ऐसी मति नहीं होती अर्थात् सम्यक्ज्ञान नहीं होता। सम्यक्ज्ञानी–चौथे गुणस्थानवाला धर्मात्मा ऐसा जानता है कि–शरीर, मन, वाणी अथवा उनकी क्रियाएँ मेरी नहीं हैं और पुण्य या पाप की वृत्तियों का उत्थान होता है–वह भी संयोग से हुआ विकार है, वह मेरी स्वाभाविक वस्तु नहीं है। इस प्रकार संयोग और संयोगी भावों की ओर की उन्मुखता छोड़कर अन्तर में ज्ञायकभाव सन्मुख होने पर 'मैं मुक्त हूँ'–ऐसा मेरा अनुभव है।

जिस प्रकार नरियल में फोतरे और नरेली, सफेद खोपरे से पृथक् हैं और खोपरे के ऊपरवाली जो लाल रंग की छाल है, वह भी नरेली की ओर का भाग है; सफेद और मीठा खोपरे का गोला उन तीनों से भिन्न है, उसी प्रकार यह ज्ञायकमूर्ति आनन्दरस का कन्द भगवान आत्मा शरीररूपी फोतरे से, कर्मरूपी नरेली से और राग-द्वेषरूपी लाली से भिन्न है। क्षणिक पर्याय में जो राग-द्वेष होते हैं, वह मेरे स्वभाव के आश्रय से हुआ भाव नहीं है–इससे वह मेरा स्वभाव नहीं है, परन्तु संयोग के आश्रय से हुआ होने के कारण संयोगीभाव है। जो कोई भी संयोग से आये हुए भाव हैं, वे सब मुझसे पर हैं, मैं मुक्तास्वरूप हूँ–ऐसी धर्मी की मति होती है।

'मैं मुक्तस्वरूप हूँ'–ऐसे अभिप्राय से मुक्ति के मार्ग का प्रारम्भ होता है या कि 'मैं रंक हूँ, बन्धनयुक्त हूँ, रागा हूँ'–ऐसे अभिप्राय से मुक्ति के मार्ग का प्रारम्भ होता है? मैं मुक्तस्वरूपी हूँ–ऐसा सम्यक् अभिप्राय हुए बिना मुक्ति की ओर का पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता। भगवान! 'यह मेरे और मैं इनका'–ऐसा जो संयोगीवस्तु का अहंकार है, वह तेरे स्वभाव की दृढ़ता का नाश करता है। चैतन्य को चूककर पर में अहंबुद्धि से प्रतिक्षण तेरे ज्ञाताभावमय जीवन का मरण होता है। संयोगबुद्धि का फल संसार है, और मैं मुक्त हूँ–ऐसी स्वभावबुद्धि का फल मुक्ति है। दया, भक्ति, हिंसादि जो विकारीभाव होते है, वे पहले नहीं थे, और संयोग से नवीन हुए हैं; इसलिए वे भाव संयोगी हैं। आत्मा संयोग से नहीं हुआ है, परन्तु त्रिकाल एकरूप स्वाभाविक पदार्थ है। धर्म करना हो अर्थात् मुक्ति करना हो, उस जीव को प्रथम तो ऐसी मति होती है, कि वस्तु त्रिकाल मुक्त है, मोक्ष-पर्याय प्रगट होने के पूर्व भी वस्तुस्वभाव से तो मैं मुक्त ही हूँ। जैसे-खोपरे में नरेली और लाली उसका स्वभाव नहीं है, इससे वे पृथक् हो जाते हैं, परन्तु सफेदी और मिठास उसका स्वभाव है, इससे वे पृथक् नहीं हो सकते। उसी प्रकार इस चैतन्यमूर्ति आत्मा में रागादिभाव होते

हैं। (वह उसका स्वभाव नहीं है, इससे) वे मुक्तदशा में दूर हो जाते हैं, परन्तु ज्ञान और आनन्द तो उसका अभाव है, वह कभी दूर नहीं होता। ऐसा पहचानकर जो रागादि संयोगीभाव हैं, वह मैं नहीं हूँ, परन्तु जो रागरहित वीतराग– ज्ञातादृष्टा मुक्तस्वरूप है, वह मैं हूँ–ऐसा प्रतीति करना, वह मुक्ति का साधन है। [पद्मनन्दि एकत्वअधिकार गाथा २७ पर पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन से]

धर्मी जीव जानता है कि 'मैं मूक्त हूँ'

(पद्मनन्दि एकत्व अधिकार गाथा २६ पर पूज्य श्रीकानजी स्वामी के प्रवचन से)

आत्मा का स्वभाव क्या है, वह जगत के जीवों ने अनन्तकाल से नहीं जाना है, इससे दुर्लभ लगता है। जिस प्रकार किसी अनजान किसान को शहर की कचहरी की सीढ़ियाँ-चढ़ते हुए डर लगता है, उसी प्रकार अनादि से चैतन्यमूर्ति आत्मा के स्वभाव को नहीं जाना, इससे उसकी यथार्थ बात सुनने से उसे समझना कठिन मालूम होता है। यदि पात्र होकर परिचय करे, तो यह बात समझ में आने योग्य है। अपने आत्मा को किस स्वरूप देखने से धर्म होता है–उसकी यह बात चल रही है।

आत्मा त्रिकाली वस्तु है, उसमें दो पक्ष हैं : एक त्रिकाली स्वभाव और दूसरा वर्तमान जितनी पर्याय। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव राग-द्वेषरहित, निर्मलानन्द स्वरूप है, उसमें बन्धन नहीं है; और उसकी वर्तमान अवस्था में राग-द्वेषादि विकारभाव हैं। वहाँ, जो विकार है, सो मैं हूँ–ऐसा मानकर विकारबुद्धि से जीव संसार में परिभ्रमण करता है। धर्मी जीव की दृष्टि ऐसी है कि मैं ज्ञानस्वभावी मुक्त हूँ, जो राग-द्वेष होते हैं, वे मेरे स्वभाव में नहीं हैं। जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वभाव से तो उज्वल है, लाल-काले पदार्थों के संयोग से जो रंग की झलक दिखायी देती है, वह

उसका स्वभाव नहीं है, परन्तु विभाव है। उसी प्रकार मेरा आत्मा त्रिकाली चैतन्यमूर्ति, पुण्य-पाप-राग-द्वेषरहित मुक्तस्वरूपी है। अवस्था में पर की ओर की उन्मुखता से जो राग-द्वेष होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, परन्तु क्षणिक विकार है, उस क्षणिक विकार जितना ही मैं नहीं हूँ; मैं स्वभावरूप से मुक्त हूँ–ऐसी मेरी मति है। मेरी मति ऐसी नहीं है कि मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, परन्तु मैं मुक्त हूँ–ऐसी मेरी मति है; अर्थात् मेरा मन विकारसन्मुख नहीं परन्तु स्वभावसन्मुख है। पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, वे मेरे मूलरूप में से नहीं आतीं। इस प्रकार विकार की रुचि टालकर स्वभाव में जिसकी दृष्टि पड़ी है, वही सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है;–ऐसी दृष्टि हुए बिना दूसरा चाहे जितना करे, तथापि किंचित् धर्म नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि कहता है कि मैं पर से भिन्न हूँ और स्वभाव से एक हूँ, इससे मैं मुक्तस्वरूप हूँ – ऐसी मेरी मति हुई है। भगवान कहते हैं, इसलिए मैं आत्मा को मुक्तस्वरूप मानता हूँ–ऐसा नहीं, परन्तु मेरी मति ही ऐसी हुई है; इस प्रकार स्वाश्रय से स्वभाव की स्वीकृति है। अपने को अपनी खबर न पड़े–ऐसी बात नहीं ली है। धमी स्वयं अपनी निःशंकता से कहता है कि स्वभाव की दृष्टि से मैं मुक्त हूँ–ऐसी मेरी मति हुई है। स्वयं को निःशंकता हुई है, उसमें किसी दूसरे से नहीं पूछना पड़ता। अभी पर्याय में मुक्ति नहीं हुई है, तथापि धर्मी कहता है कि मैं मुक्त हूँ। पर्याय में अपूर्णता और राग-द्वेष है, उसका ज्ञान में ख्याल, परन्तु पर्याय में राग-द्वेष होने पर भी मैं उसका आश्रय नहीं करता, मैं त्रिकाली स्वभाव का ही आश्रय करता हूँ,–इस प्रकार स्वभाव के आश्रय से धर्मी कहता है कि मैं मुक्त हूँ। अन्तर में ऐसे आत्मा का ज्ञान करना ही मुक्त होने का मार्ग है। अन्तर में जो मुक्तास्वरूप का स्वीकार करेगा, उसे उसमें से मुक्तदशा प्रगट होगी। परन्तु जो मुक्तस्वरूप को अस्वीकार करता है, उसे कहाँ से मुक्तदशा आयेगी?

ज्ञानस्वभावी आत्मा वास्तव में बंधा हुआ नहीं है। एक हीरों क हार डिब्बी में रखा हो और डिब्बी सन्दूक में रखी हो, परन्तु ज्ञान में तो वह हार झूलता रहता है, इससे आत्मा का ज्ञान बंधा हुआ नहीं है। पुण्य-पाप के जो भाव होते हैं, उन्हें जाननेवाला ज्ञान स्वयं पुण्य-पाप से बंधा हुआा नहीं है, परन्तु वह तो पुण्य-पाप से मुक्त ही है; इस प्रकार पुण्य-पापरहित मुक्त ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना चाहिए। जिस प्रकार माल खरीदते समय भाव-तोल तो करता है, उसी प्रकार इस चैतन्य को समझने के लिए ज्ञानद्वारा नय-प्रमाण से उसका बराबर माप करना चाहिए, सभी पक्षों से निर्णय करना चाहिए। यदि माप करनेवाला ज्ञान ही मिथ्या हो तो वस्तु का माप सच्चा नहीं आता। जहाँ तराजू और बाँट ही फेरवाले हों, वहाँ सच्चा माप कैसे आयेगा? इसी प्रकार सच्चे ज्ञान के बिना जगत धर्म करना चाहे तो धर्म कहाँ से होगा? अहो! आजकल तो चैतन्यस्वभाव का माप

करने के जगत के काँटे ही फेरवाले हो गये हैं। आत्मा पर का करता है और आत्मा पर को छोड़ता है–इस प्रकार आत्मा का माप करते हैं, वह मिथ्याज्ञान है, उसमें आत्मा का सच्चा माप कहाँ से आयेगा? बाह्य-त्याग से या पुण्य से धर्म का माप नहीं है, परन्तु अन्तदृष्टि से ही धर्म का माप है। धर्मी जीव अपने यथार्थ ज्ञान से आत्मा को कैसा जानता है, वह यहाँ कहते हैं।

सम्यक्दृष्टि को सम्यक्मतिज्ञान होने से चैतन्य में ऐसी प्रतीति होती है कि अहो! मैं मुक्त हूँ; मेरे ज्ञानस्वरूप में कर्म का या विकार का बन्धन नहीं है–इस प्रकार अपने मुक्तस्वभाव की प्रतीति होने से उसे भव की शंका भी नहीं है, क्योंकि स्वभाव में भव नहीं है। भव का कारण विकार है, वह विकार आत्मा के स्वभाव में नहीं है, इससे स्वभावदृष्टि से धर्मी को भव की शंका होती ही नहीं। इसमें केवली भगवान से पूछने नहीं जाना पड़ता, परन्तु जहाँ अपनी ज्ञानपरिणति स्वभावोन्मुख हुई और मुक्तस्वभाव को स्वीकार किया, वहाँ निःशंकरूप से खबर पड़ती है, कि अब अल्पकाल में इस स्वभाव के आश्रय से मुक्तदशा प्रगट होनेवाली है। तृषा लगी हो और स्वयं ठण्डा पानी पी ले, तो फिर वैद्य से नहीं पूछना पड़ता कि तृषा शान्त है या नहीं; उसी प्रकार अनन्तकाल से संसार परिभ्रमण करते हुए जीव को सत्समागम से चैतन्य की अपूर्व प्रतीति हुई, वहाँ मुक्ति की निःशंकता हुई, उसमें मेरी–'मेरी मुक्ति होगी या नहीं'–ऐसा भगवान से नहीं पूछना पड़ता। जिसकी अपनी परिणमति स्वभाव की ओर कार्य कर रही हो, पुरुषार्थ स्वभाव की ओर ढ़लता हो, रुचि और ज्ञान प्रतिक्षण स्वभाव की ओर का कार्य करते हों, उसे स्वयं को उसकी खबर न पड़े – ऐसा कैसे हो सकता है? और उसे भव की शंका दूर न हो, यह भी कैसे हो सकता है? जैसे-बन्धन में बन्धे हुए किसी पुरुष ने बलपूर्वक अमुक बन्धन तोड़ दिये, अमुक बन्धन ढ़ीले कर दिये और अमुक टूटने की तैयारी में हों, वहाँ उसे ऐसी शंका नहीं होती कि 'मैं छूटूँगा या नहीं?' उसी प्रकार धर्मी जीव ने अपने आत्मा को दर्शन में मुक्त माना, ज्ञान में शुद्ध ज्ञात हुआ, चारित्र में अल्प शुद्धता प्रगट हुई, और शेष अल्प राग-द्वेष रहे हैं, उन्हें भी स्वभाव के आश्रय के बल से अल्पकाल में टालकर मुक्त होना है, उसे बन्धन की शंका कैसे हो? मैं मुक्तस्वरूप नहीं परन्तु बन्धनमय हूँ–ऐसी जिसकी मति है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। धर्मी जीव अवस्था के क्षणिक बन्धन को जानता होने पर भी उसे गौण करके स्वभाव की मुख्यता के बल से कहता है कि 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ'–ऐसा मेरी बुद्धि हुई है। इसका नाम धर्म है, यह अमृतमार्ग है, यही मुक्ति का मार्ग है।

अज्ञानी जीव मूढ़रूप से राग को और आत्मा के स्वभाव को एकमेक मानता है, परन्तु पृथक् नहीं जानता, इससे राग के समय उसे अपना मुक्तस्वरूप भासित नहीं होता, सम्पूर्ण आत्मा

रागमय ही भासित होता है। जिस प्रकार भूखा हाथी अविवेक के कारण लड्डु और घास मिलाकर खाता है; उसी प्रकार पशु जैसा अज्ञानी जीव, अविवेकरूप से आत्मा के निर्दोष स्वभाव और विकार का एकरूप अनुभव करता है, इससे वर्तमान में ही अपना आत्मा मुक्तस्वरूप से उसके अनुभव में नहीं आता। धर्मी जीव अन्तरदृष्टि के विवेक द्वारा आत्मा के स्वभाव का और विकारभावों का पृथक् अनुभव करता है, इससे अवस्था में विकार विद्यमान होने पर भी, वर्तमान में ही वह अपने आत्मा को मुक्तरूप से जानता है। प्रत्येक मोक्षार्थी जीव को प्रथम अपने से स्वभाव का भान करना चाहिए। आत्मा तो जागृत चैतन्यसत्ता है, वह स्व-पर को जानता है; पर को और पुण्य-पाप को भी उनके एकमेक हुए बिना जानता है—ऐसा उसका स्वभाव है। अपने स्वभाव में अभेद होकर स्व को जानता है और पुण्य-पाप में एकमेक हुए बिना उन्हें जानता है। पुण्य-पाप को जानते हुए, यदि ज्ञान उनमें एकमेक हो जाये तो वह ज्ञान पुण्य-पाप को यथार्थतया नहीं जान सकेगा। धर्मी जीव को निचलीदशा में राग-द्वेष होता है तथा स्वरूप की स्थिरता करना शेष होने पर भी श्रद्धा में उसे अपने राग-द्वेषरहित मुक्तस्वभाव की प्रतीति है; इससे उसके आश्रय से अल्पकाल में पूर्ण स्थिरता प्रगट करके वह मुक्त होता है।

सूचना

जिन महानुभावों को समयसार-प्रवचन (हिन्दी) सम्बन्धी किसी प्रकार की शिकायत हो अथवा उस सम्बन्ध में कुछ जानना हो, वे निम्न पते पर पत्र व्यवहार करें :—

म.ही.पा.पारमार्थिक ट्रस्ट
मारोठ (मारवाड़)

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द, मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र